Swar Sindhu: National Peer-Reviewed/Refereed Journal of Music
ISSN 2320–7175 | Volume 09, Issue 02, July-December 2021
http://swarsindhu-pratibha-spandan-org
© The Author(s) 2021
A UGC CARE listed Journal

हिन्दुस्तानी तथा कर्नाटक शास्त्रीय संगीत के प्रमुख तत् वाद्य

DR. RITA DHANKAR

Associate Professor, Bhagini Nivedita University, Delhi University Kair, New Delhi

सार संक्षेपिका

भारतीय संस्कृति को गौरवाशाली बनाने में हिन्दुस्तानी तथा कर्नाटक संगीत का एक बड़ा योगदान है। यह संगीत पुराने समय में राजा महाराजाओं के दरबार में गुरु-शिष्य प्रणाली को मानते हुए फला-फूला तथा बाद में विद्यालयों, महाविद्यालयों आदि में नियमबद्ध तरीके से सिखाया और पढ़ाया जाता रहा है। कर्नाटक तथा हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत तत् वाद्यों की प्रमुख भूमिका है। तत वाद्यों के भिन्न-भिन्न प्रकार मिलते हैं। सदियों से ये वाद्य शास्त्र के अनुसार नियमबद्ध तरीके से बजते आ रहे हैं। इनमें मुख्यतया विभिन्न प्रकार की वीणाएँ, सुरबीन अथवा गोटटुवाद्यम, वायलिन, सितार, सरोद आदि प्रसिद्ध हैं।

प्रविधि - प्रस्तुत लेख को तैयार करने में सर्वेक्षण विधि का प्रयोग किया गया है।

मुख्य शब्द: हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत, कर्नाटक शास्त्रीय संगीत, तत् वाद्य।

भूमिका

भारतीय संस्कृति को गौरवशाली बनाने में कर्नाटक संगीत का एक बड़ा योगदान है। यह संगीत पुराने समय में राजा महाराजाओं के दरबार में गुरु-शिष्य प्रणाली को मानते हुए फला-फूला तथा बाद में महाविद्यालयों में नियमबद्ध तरीके से सिखाया और पढ़ाया जाता रहा है।

वीणा (बीन)

वीणा प्राचीन शब्द है। प्राचीन तथा मध्यकालीन संस्कृत साहित्य में वीणा शब्द का प्रयोग तत या 'तन्तुवाद्य' के लिए किया जाता रहा और तंतु वाद्य के सभी प्रकार वीणा के प्रकार माने जाते रहे। प्रचलित संगीत में वीणा के दो रूप पाए जाते हैं- (1) उत्तर भारतीय वीणा, (2) दाक्षिणात्य वीणा। प्रथम को रुद्र वीणा तथा ब्रह्म वीणा भी कहा जाता है। इसी का अपभ्रंश वीणाओं का उल्लेख मध्ययुगीन 'संगीतमकरंद' में पाया जाता है, परन्तु उनके आकार-प्रकार का कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। ई0 13 के 'संगीतरत्नाकर' में 14 अचल परदों तथा तीन पूर्व तूम्बेवाली वीणा का उल्लेख अवश्य है। परन्तु इसका नाम 'किन्नरी' है, जो वर्तमान वीणा का पूर्व रूप मानी जा सकती है। ई0 17 के परवर्ती पं. सोमनाथ नारायण तथा अहोबल के संगीत ग्रंथों में रुद्रवीणा का वर्णन मिलता है, जो इसी का विकसित स्वरूप है और उत्तर भारतीय वीणा अर्थात् वर्तमान बीन से मिलता-जुलता है। 'आदि महादेव बीन बजाई' जैसे सदारंग के ख्याल-गीत में बीन का संबंध 'रुद्रवीणा' से है।

वीणा बाँस की लकड़ी से बनी होती है। इसके दण्ड की लंबाई लगभग साढ़े तीन फीट होती है। इसमें प्रायः दो तूम्बे लगे होते हैं। दो तूम्बों के बीच जो दण्ड का हिस्सा है, उसको 'अस्थान' (स्थान) कहा जाता है। इस पर पीतल के 22 से 24 तक परदे लगाए जाते हैं, जो अपने स्थान से हटाये या खिसकाए नहीं जा सकते। इनको 'सुन्दरी' या 'सारिका' कहा जाता है। इन सुन्दरियों के ऊपर से धातु के चार मुख्य तार और पाश्र्व में तीन तार रहते हैं। तार क्रमशः मन्द्र म, मन्द्र सा, मन्द्र प तथा मन्द्र ग में मिलाए जाते हैं। पार्व के तार मध्य (या तार) सा और मन्द्र सा में मिलाए जाते हैं। इन पर चिकारी का काम

Swar Sindhu: National Peer-Reviewed/Refereed Journal of Music
ISSN 2320–7175 | Volume 09, Issue 02, July-December 2021
http://swarsindhu-pratibha-spandan-org
© The Author(s) 2021
A UGC CARE listed Journal

किया जाता है। चार मुख्य तंत्रियों को क्रमशः नायकी, खरज, पंचम और लरज कहा जाता है। बजाते समय वीणा का तूम्बा बायें कन्धे पर टिका रहता है और नीचे वाला तूम्बा दाहिने घुटने के सहारे रखा जाता है। तंत्रियों को दाहिने हाथ की पहली और दूसरी अँगुलियों से सारिका पर दबाया जाता है, जिससे स्वरों की उत्पत्ति होती है। चिकारी के तार प्रायः बाएँ हाथ की छोटी अँगुली से बजाए जाते हैं।

बीन पर जो वादन होता है, उसको आलाप, जोड़ तथा गत कहते हैं। आलाप को 'नोम्तोम्' भी कहा जाता है और यह विलम्बित लय में बजाया जाता है। जोड़ में लय कुछ मध्य होती है। इसमें स्वरों को मीड़, घसीट एवं गमक से आपस में जोड़ा जाता है। ये दोनों लयकारी के साथ होते हैं। परन्तु ताल का आरम्भ गत के साथ होता है। बीन के बाज को निम्न 18 भागों में बांटा जाता है 1. अस्थायी वर्ण, 2 अन्तरा वर्ण, 3. संचारी वर्ण, 4. आभाग वर्ण, 5. भोग वर्ण, 6. बराबर की जोड़, 7. गमक जोड़, 8 लड़ी जोड़, 9. झाला, 10. ठोक झाला, 11. कट्ट झार, 12. लड़ी, 13. लड़गुथाव, 14. लड़लपेट, 15. परन, 16. साथ संगत, 17. धुंआ, 18. मठ। इनमें से प्रथम चार विलंबित लय में बजाए जाते हैं। बराबर, गमक और लड़ी की जोड़ मध्य लय में बजाए जाते हैं। पहले 10 खंड़ों तक मृदंग की संगति द्रुत लय में चलती रहती है। यह वाद्य गायकी तथा तंत्रकारी दोनों अंगों से बजाया जाता है।

अकबर के दरबारी मिश्रीसिंह बीन के सर्वोच्च कलाकार थे, जो तानसेन के ध्रुपद-गायन के साथ बीन पर संगत किया करते थे। आगे चलकर ये ही तानसेन के दामाद बन गए और इनका नाम नवाब खाँ हो गया। तानसेन के इसी पुत्री वंश में बीन की परम्परा सुरक्षित रही। रामपुर इसका सर्वोच्च केन्द्र रहा। प्यार खाँ (लखनऊ), वंदेअली खाँ, अमीर खाँ तथा वजीर खाँ (रामपुर), मुराद खाँ (जावरा) तथा असदअली (आगरा) का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है।

सरस्वती वीणा

दक्षिण भारतीय वीणा को 'सरस्वती वीणा' या 'तंजौर वीणा' के नाम से पुकारा जाता है। मध्ययुगीन 'संगीत-मकरंद' और 'अभिनव भारती' के रचयिता के अनुसार यह कछुए के आकार की था। साक्ष्य के अभाव में इसका प्राचीन रूप आज ज्ञात नहीं, तथापि यह कहा जा सकता है कि इसका विकास भारतीय वीणा के समान ही 'किन्नरी' वीणा से हुआ है। यह वीणा आड़ी रखकर बजायी जाती है। तूम्बा केवल एक ही सिरे पर अर्थात् बायीं ओर लगा रहता है। दाहिने सिरे पर जो घट होता है, वह वीणा-दण्ड के साथ ही जोड़ दिया जाता है। इसमें बीन के समान ही धातु के तार होते हैं। दण्ड पर चार मुख्य तार होते हैं और पाश्र्व में तीन तार। प्रथम तार को बाज का तार कहते हैं और शेष तीनों को ताल के तार कहते हैं। प्रथम चार तार क्रमशः मध्य सा, मन्द्र प, मन्द्र सा तथा अतिमन्द्र प में मिलाए जाते हैं। शेष तीन, जिनको 'चिकारी' कहते हैं, क्रमशः तार सा, तार प तथा अति तार सा में लगाये जाते हैं।

वीणा के दण्ड पर 24 परदे या सारिकाएँ होती हैं, जिनको मेट्टु कहते हैं। इसको बजाने का तरीका ठीक वही है, जो उत्तर भारतीय वीणा का है। अन्तर इतना ही है कि इसमें ग के स्थान पर प्रबंध तथा कृतियां बजायी जाती हैं। सरस्वती वीणा का प्रयोग गायन के साथ संगति के लिए किया जाता है और शुष्क या 'सोलो' वाद्य के रूप में भी। इसके प्रसिद्ध कलाकारों में वीण पेरू मालल्य (तंजौर) शेषन्ना, वीणा कुप्पय्य, चिन्नस्वामी दीक्षित, इतयादि के नाम प्रमुख रूप से लिये जा सकते हैं। दक्षिण के सांस्कृतिक जीवन में वीणा का महत्वपूर्ण स्थान है। समाज के सभी स्वरों में इसे सम्मान प्राप्त है। वीणा-वादन का कौशल वहां सुसंस्कृति का लक्षण माना जाता है।

Swar Sindhu: National Peer-Reviewed/Refereed Journal of Music
ISSN 2320–7175 | Volume 09, Issue 02, July-December 2021
http://swarsindhu-pratibha-spandan-org
© The Author(s) 2021
A UGC CARE listed Journal

भारतीय संगीत की बारीकियों को प्रदर्शित करने वाला यह भारतीय प्राचीन वाद्य है। इससे अभिप्राय है संगीतमय आवाज़। संगीतमय ध्वनि की उत्पत्ति करने वाली वीणा वाद्य प्राचीन समय से आज तक आम वाद्य मानी जाती है। तुम्बरू आदिकाल से वीणा वादन में अति प्रसिद्ध हैं। पहले तीन प्रकार की वीणा का उल्लेख मिलता है:- नारदी वीणा, सरस्वती वीणा, विनीत वीणा। प्राचीन वीणा के आधार पर ही सितार वाद्य की उत्पत्ति हुई। वीणा वाद्य में दायें हाथ में मिजराब द्वारा तार पर प्रहार करते हैं और बायें हाथ में पकड़े शीशे के गोले से तार के ऊपर घसीट कर बजाते हैं। इस वाद्य की ध्वनि बड़ी मधुर होती है और इसमें मीड़ गमक का काम बहुत अच्छा दिखाया जाता है।

विचित्र वीणा

विचित्र वीणा वाद्य का पंजाब प्रान्त के पटियाला से अत्यंत घनिष्ठ संबंध है। पटियाला दरबार के सुप्रसिद्ध वीणा वादक अब्दुल अज़ीज खां को विचित्र वीणा नामक वाद्य के आविष्कारक होने का श्रेय दिया जाता है। वस्तुतः यह तथ्य विवादग्रस्त है कि विचित्र वीणा नामक वाद्य अथवा इसके आकार-प्रकार से मिलता हुआ कोई अन्य वाद्य इससे पूर्व भी भारतीय भूमि पर प्रचलित रहा था अथवा नहीं, लेकिन इसमें संदेह नहीं कि वर्तमान युग में इसको प्रकाश में लाने वाले कलाकार उस्ताद अब्दुल अज़ीज खां ही हैं। उस्ताद अब्दुल अज़ीज खां का संबंध पटियाला दरबार से ही था।

विचित्र वीणा दो तुम्बों वाला वाद्य है, जिसकी डाँड पर चार मुख्य तार चढ़े होते हैं और नीचे तरब के तार होते हैं। विचित्र वीणा का आकार कुछ इस प्रकार का प्रतीत होता है, जैसे दो घड़ों पर एक डाँड रखी हो। इसकी डाँड पर सारिकायें अर्थात् परदे भी बंधे होते हैं और तारों पर स्फटिक अथवा कांच के बट्टे के घर्षण से स्वर उत्पन्न किए जाते हैं और दायें हाथ की उँगुलियों में दो-तीन मिजराबें धारण कर तारों पर आघात किया जाता है। उस्ताद अब्दुल अज़ीज खां जीवन के पूर्वार्द्ध में सारंगी वादक थे और इसी निपुणता ने इनको इस विचित्र वाद्य के वादन में सफलता प्रदान की।

सुरबीन अथवा गोट्टुवाद्यम्

यह आधुनिक दाक्षिणात्य वाद्य है। यह सारिका विहीन होता है। इसको बजाने के लिए आबनूस से बने काष्ठखण्ड का प्रयोग किया जाता है। कुछ वादक तारों को दबाने के लिए लकड़ी के स्थान पर कांच के गोले या बांस के टुकड़ो का प्रयोग करते हैं। तार बजाने के लिए वीणा के समान उँगुलियों का प्रयोग किया जाता है। दक्षिण भारत के तमिलनाडु प्रदेश में इस साज़ को बजाने के लिए 'कोट्' अर्थात् हरिण के सींग का उपयोग करते थे। संभवतः इसी 'कोट्टु' से इसका नाम गोट्टुवाद्यम् पड़ गया। दक्षिण में इस साज़ को 'महानाटक वीणा' अथवा 'बाल सरस्वती' भी कहते हैं।

इस वाद्य के दण्ड पर धातु का पत्ता लगा रहता है और इसके ऊपर से चार तंत्रियां लगी रहती हैं, जो मध्य सा, मध्य प, मन्द्र सा तथा मन्द्र म में मिली हुई होती हैं। इन तंत्रियों के नीचे सात स्वरों की सात तरबें लगी होती हैं, जिससे साज की गूँज बढ़ने में सहायता मिलती है। इस वाद्य में गमक का काम बड़ा आकर्षक होता है।

वायलिन

यह विदेशी वाद्य भारत में इस प्रकार अपना लिया गया है कि अब यह भारतीय वाद्यों की श्रेणी में गिना जाने लगा है। यह लकड़ी का बना बाॅक्स-सा होता है, जिसके ऊपरी भाग पर लगे ब्रिज के ऊपर से तारें गुजरती हैं। यह अन्दर से खोखला होता है, जिसके कारण तारों की आवाज गुंजती है। इसमें चार तार प्रयुक्त होते हैं। पहला तार म या प, दूसरा सा, तीसरा प और चैथा तार रे स्वर पर मिलाया जाता है। पहला तार मोटा और अगला तार क्रमशः एक दूसरे से पतले होते

Swar Sindhu: National Peer-Reviewed/Refereed Journal of Music
ISSN 2320–7175 | Volume 09, Issue 02, July-December 2021
http://swarsindhu-pratibha-spandan-org
© The Author(s) 2021
A UGC CARE listed Journal

जाते हैं। यह संगीत के लिए उत्तम वाद्य है और एकाकी वादन के काम भी आता है। वायलिन के तारों को एक लकड़ी की छड़ी (बो) के आगे लगे बालों के घर्षण से बजाया जाता है।

वायलिन तंतु वाद्यों में सबसे अधिक लोकप्रिय वाद्य है। इसका भारतीय नाम 'बेला' है। विगत शताब्दी के अंत से यह भारतीय संगीत में प्रवेश पा चुका है। लोकसंगीत में उपलब्ध (सारिंदा) नामक वाद्य से इसकी शक्ल विशेष रूप से मिलती-जुलती है। इसमें धातु के स्थान पर ताँत के तीन तार लगे होते हैं और इसका 'टेलपीस' वाला हिस्सा वायलिन जैसा होता है।

भारतीय संगीत में वायलिन के समान गज़ से बजने वाले वाद्यों का प्रचार प्राचीन काल से रहा है। भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों का इस संबंध में यह मत है कि गज से बजने वाले वाद्यों का सूत्रपात सर्वप्रथम भारत में हुआ और यहीं से यह विदेशों में फैला। दक्षिण के कुछ मंदिरों में वायलिन के आकार-प्रकार वाले कुछ चित्र मिलते हैं। इसको किस नाम से पुकरा जाता रहा, यह ज्ञात नहीं हो सका, तथापि इतना निश्चित है कि इस वाद्य का विकास भारत में प्राचीन काल से मध्यकाल तक बराबर होता रहा है। माना जाता है कि ई0 13 के लगभग भारत में प्रचलित 'पिनाकी-वीणा' से इसका आकार-प्रकार तथा वादन-शैली अधिकांश में मिलती-जुलती है। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार वायलिन का उद्गम वायोला नामक मध्यकालीन वाद्य से हुआ है जो स्वयं मध्य एशिया के 'रिबेका' नामक वाद्य का परिवर्तित रूप है। पाश्चात्य देशों में यह साज 'वाद्यों का राजा' माना जाता है। इसी से मिलते-जुलते कुछ वाद्य भी पाये जाते हैं, जैसे झेलो, वायेला या बेबी-साईज तथा थ्री-फोर्थ इत्यादि। वायलिन तथा इन वाद्यों के बीच केवल आकार प्रकार तथा तारों के ऊँचे-नीचे पन का ही अन्तर होता है।

वायलिन में चार तार होते हैं। इनको लगाने की निम्न चार पद्धतियां हैं:- 1. म सा प सां, 2. म सा प रें, 3. प सा प सां तथा 4. सा प सा प। कुछ कलाकार इसमें इच्छानुकूल अधिक स्वरों के तार भी लगा लेते हैं। दक्षिण में चारों तंत्रियां ताँत की लगाई जाती हैं। इससे उसकी ध्वनि मानव कण्ठ से मिलती-जुलती होती है और गायन की संगति के लिए योग्य बन जाती है। उत्तर में धातु की तंत्रियाँ अधिक पसंद की जाती हैं।

सामान्यतः वायलिन 'म सा प सां' स्वरों में मिलाया जाता है। इसमें दो सप्तकों का स्वर-क्षेत्र वादकों के लिए सुलभ हो जाता है और प्रायः गायकों की संगति का काम भी इससे भली भांति संपन्न हो जाता है। दक्षिण में वायलिन सा प में मिलाने की प्रथा है। इससे लगभग 211 सप्तकों का स्वर-क्षेत्र सुलभता से मिल जाता है। इसके अंतर्गत तार सप्तक के रे से लेकर प तक के स्वर अनामिका (तीसरी अँगुली) या कनिष्ठिका (छोटी अँगुली) को घीसटकर निकालने पड़ते हैं, अँगुली रखने के स्थानों को बदलकर वे स्वर निकालने पड़ते हैं। जैसे तार सां पर पहली अँगुली रखकर 'रें, गं, मं तथा पं स्वरों को बजाने के लिए क्रमशः दूसरी, तीसरी और चैथी अँगुली का प्रयोग करना पड़ता है। यह स्थिति नए छात्रों के लिए कुछ जटिल एवं असुविधाजनक रहती है। चैथी पद्धति पाश्चात्य तरीके से तार मिलाने की है। इसमें तार क्रम से जी (प), डी(री), ए (घ), ई (ग) में मिलाने की परम्परा है। इस पद्धति का अंगीकार प्रायः फिल्मी संगीत में किया जाता है। इसको मानने वाले भारतीय वादन वायलिन 'म सा प रे' में मिलाते हैं।

वायलिन वादन की तीन शैलियां प्रचलित हैं-

Swar Sindhu: National Peer-Reviewed/Refereed Journal of Music
ISSN 2320–7175 | Volume 09, Issue 02, July-December 2021
http://swarsindhu-pratibha-spandan-org
© The Author(s) 2021
A UGC CARE listed Journal

1. गायकी शैली, 2. तंत्री शैली तथा 3. फिल्मी शैली। प्रथम में विलंबित ख्याल गायकी तथा उसके सभी अंग ओर उपांग मींड़, गमक, घसीट आदि के साथ निकाले जाते हैं। यद्यपि वायलिन का प्रत्येक तार एक ही स्वर में बँधा रहता है तथापि घसीट के द्वारा अथवा वायलिन का प्रत्येक अँगुलियों की स्थिति बदलकर एक तार में पूरा सप्तक निकाला जाता है। दूसरी शैली में सरोद, सितार तथा बीन की भाँति दा, दिर, दिर जैसे बोल इस पर बजाये जाते हैं और स्वरों के विविध अलंकार बजाने के लिए गज़ का प्रयोग बहुलता से किया जाता है। इस शैली में गीत के स्थान पर गत, तोड़ा तथा झाला इत्यादि बजाये जाते हैं। तीसरी शैली सिनेमा संगीत में पाई जाती है। इसमें पाश्चात्य संगीत की अंगुली-स्थापन की विधि का भरपूर लाभ उठाया जाता है और एक समय पर ही विभिन्न स्वर-स्थानों को दबाकर हारमनी के स्वर-गुच्छों को बजाया जाता है।

ख्याल शैली के वादकों में पं. गजानन राव जोशी, पं. धुंडिराज पलुस्कर, वी.जी. जोग, दातार तथा ज़हुर अहमद आदि के नाम लिए जा सकते हैं तंत्र शैली के वादकों में स्व. गगन, बाबू तथा पासेकर के नाम विशेष रूप से लेने योग्य हैं। दक्षिण में गायकी शैली का प्रचार अधिक है। स्व. द्वारम वेंकट स्वामी नायडू, स्व. चैडैया, पी. सुंदरम् नैययर जैसे विद्वान् इस वाद्य के वरिष्ठ कलाकारों में से हैं। प्रो. सुंदरम् के सुपुत्र श्री गोपाल कृष्णन् उत्तरी तथा दक्षिणी दोनों शैलियों के सफल एवं सद्धिहस्त कलाकार हैं।

सितार

प्रचलित साज़ों में सितार अत्यंत लोकप्रिय साज़ है। इसका आकार प्रकार ईरानी तंबूरा और ऊद के समान है। इसके उद्भव के संबंध में तीन मत पाए जाते हें। एक मत के अनुसार 13 वीं शताब्दी के अमीर खुसरो ने इसका आविष्कार पर्शियन वाद्य 'ऊद' के आधार पर किया। दूसरा मत यह है कि प्राचीन भारत में 'त्रितन्त्री' अर्थात् तीन तारों वाली जो वीणा रही, उसी का परिवर्तित रूप 'सितार' है। 'सितार' शब्द पर्शियन 'सेह-तार' से बना है, जिसका अर्थ 'तीन तंत्रियों वाली वीणा' है। एक अन्य मत के अनुसार, भारत की प्राचीन सप्ततंत्री' का रूप बिगड़कर 'सत्तार' और फिर 'सितार' हो गया। कर्नाटक संगीत में जो स्थान सरस्वती वीणा का है, वही हिन्दुस्तानी संगीत में सितार का है। सितार अपनी महत्ता के साथ-साथ उतना ही या संभवतः उससे भी अधिक लोकप्रिय है। अनेक सितार-वादकों को सांस्कृतिक आदान-प्रदान ने अब भारत से बाहर भी सम्मान और प्रसिद्धि दी है। आज यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण भारतीय वाद्य है, चाहे इसके पूर्वज हमारे देश के सीमा-प्रान्तों या उनके पार से ही क्यों न आए हों। अभी हाल के वर्षों तक यह विश्वास था कि इस वाद्य के आविष्कारक 13वीं शताब्दी के कवि-संगीतकार अमीर खुसरो थे। यह पुष्टि करने योग्य तथ्य से अधिक लोक-विश्वास प्रतीत होता है, क्योंकि ज्ञात विश्वसनीय पुस्तकीय प्रमाण 18वीं शताब्दी से अधिक प्राचीन नहीं हैं। 18 वीं शताब्दी के एक लेखक का इतना कहना पर्याप्त है कि तंबूरा ही सितार के नाम से मशहूर हुआ है।

सितार में निचली ओर लगभग गोल तुंबा होता है। जब तुंबा चपटा होता है तो वाद्य को 'कछुआ सितार' कहा जाता हैं तुंबा ग्रीवा के एक ओर चिपका होता है और इसका ऊपरी भाग काष्ठफलक से ढका होता है, जो चपटा या थोड़ा-सा फूला हुआ होता है। ग्रीवा से एक लम्बा दंड जुड़ा होता है, जिसे 'दंडी' कहा जाता है। इसके ऊपर पीतल के उत्तल पर्दे लगे होते हैं, जिन्हें वांछित स्थान तक खिसकाया जा सकता है। इस प्रकार के सचल पर्दों की व्यवस्था को 'चल थाट' कहा जाता है। अधिक कीमती सितारों में दूर वाले सिरे पर एक और तुबा दंड के नीचे लगा होता है। राग बजाने के लिए धातु के पाँच तार मुख्य मेरु के ऊपर कसे होते हैं। इसके अतिरिक्त सुर के लिए दो तार होते हैं, जिन्हें 'चिकारी' कहा

Swar Sindhu: National Peer-Reviewed/Refereed Journal of Music
ISSN 2320–7175 | Volume 09, Issue 02, July-December 2021
http://swarsindhu-pratibha-spandan-org
© The Author(s) 2021
A UGC CARE listed Journal

जाता है। इस वाद्य में मुख्य तंत्रियों के नीचे ग्यारह से सत्रह तक कितने ही तार अतिरिक्त गूँज के लिए लगे होते हैं, जिन्हें 'तरब' कहा जाता है (ये कम कीमत के सितारों में नहीं होते)। मुख्य तंत्रियाँ और चिकारी विशेष रूप से चैड़े मुख्य मेरु के ऊपर से गुज़रती हैं, जबकि तरबें अपेक्षाकृत छोटे और चपटे मेरु के ऊपर से गुज़रती हैं, जो मुख्य मेरु के नीचे ही स्थिति होता है। मेरु अस्थि, हिरण के सींग अथवा कठोर लकड़ी का बना होता है। तार तर्जनी उँगली में मिज़राब पहनकर झंकृत किए जाते हें और उँगलियों की गति हथेली के दूर-पास, ऊपर-नीचे, आगे-पीछे होती है। चिकारी का उपयोग आधार-स्वर देने के लिए किया जाता है।

एक मत यह है कि यह वीणा प्राचीन त्रितंत्री से विकसित हुआ वाद्य है। 'त्रितंत्री' संस्कृत नाम है, जिसका अर्थ है-'तीन तंत्रियों वाला वाद्य'। फारसी में 'सेह' का अर्थ है 'तीन' और 'तार' का अर्थ है 'तंत्री' अतः वह वीणा जिसमें तीन तार हों, 'सेह-तार' कहलाई। कालांतर में उसका नाम 'सितार' हो गया। परन्तु नामों में चाहे जितनी समानता हो, संरचनात्मक रूप से दोनों बिल्कुल ही अलग प्रकार के वाद्य हैं। सभी उपलब्ध संकेत यह संशय उत्पन्न करते हैं कि त्रितंत्री से वीणा विकसित हो ही नहीं सकती। अतः इससे अधिक समानता वाले वाद्य के कश्मीरी सितार 'सैतार' है, जो सितार से छोटी वीणा है। इसका दंड तुंबेनुमा स्वर-पेटी से निकलता है और ताँत के कई परदों से युक्त होता है। इसमें एक सँकरा अथवा चैड़ा मेरु होता है तथा सात तार होते हैं। इस प्रकार इस वीणा का आकार, ताँत के सचल परदे और इसका यश हमारी संगीत-सभाओं के वाद्यों में प्रमुख है।

पुराने सितार-वादकों में अमृत सेन, रहीम सेन और निहाल सेन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। तानसेन-परम्परा के निर्मल शाह को भी हम नहीं भूल सकते। इन सबका सितार-वादन धुरपद और वीणा की परम्परा के अन्तर्गत ही था। उस समय वीणा के अलावा और कोई ऐसी वाद्य-शैली नहीं थी, जिसके अनुशासन को सितार-वादक मानते और जिसके सिद्धान्तों और नियमों का पालन करते। अमृत सेन, रहीम सेन और निहाल सेन से संबंद्ध कुछ एक सी घटनाओं का वर्णन मिलता है जिससे उनके वादन के अलौकिक एवं दिव्य प्रभावों का पता चलता है। उनका सितार-वादन सच्ची साधना का ही एक रूप था। आजकल के सितार-वादन की शैली से उनकी शैली बिल्कुल अलग थी।

सितार को यह महत्व और सम्मान बहुत पहले नहीं मिला। अब से कोई सौ वर्ष पहले इसे सम्मानजनक भी नहीं समझा जाता था। सम्मान का स्थान तब रुद्र वीणा को प्राप्त था। वास्तव में वीणा के पारम्परिक उस्ताद अगर कभी सिखाते भी थे तो अपनी पकड़ से बाहर के किसी व्यक्ति को वीणा कभी नहीं सिखाते थे। वीणा घराने का विशेष अधिकार थी। अगर किसी बाहरी आदमी ने उनके ज्ञान के दुर्ग का द्वार कभी खटखटाया भी, तो उसे सितार जैसा कोई वाद्य सिखा दिया करते थे। सितार और उसकी शेली को प्रात्साहन 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मिलने लगा। इसी समय में अमीर खाँ, बरकतुल्ला खाँ, बहादुर खाँ और गुलाम रज़ा जैसे महान् उस्ताद हुए। ये असाधारण रूप से श्रेष्ठ वादक कलाकार थे, जिनके मधुर संगीत ने सितार को सम्मानजनक स्थान तक उठाया और इसे व्यापक मान्यता दिलवाई। संगीत में पसन्द बदल रही थी। मधुर वीणा और उसकी शान्त शैली अपना असर खो रही थी, ठीक वैसे ही जैसे धुरपद-गायकी और पखावज-वादन ख्याल और तबला के लिए जगह छोड़ रहे थे। एक लयात्मक शैली विकसित हो रही थी, जिसने सितार-वादन को प्रोत्साहित किया। अनेक सितारियों में से मसीत खाँ और गुलाम रज़ा वादन की उन शैलियों के जनक थे जो आज के वादन का मुख्य आधार हैं। मसीत खाँ की रचनाएँ मसीतखानी बाज के रूप में विकसित हुई, जो विलम्बित लय में होती हैं और ताल से तकरार नहीं करती तथा बढ़त के लिए पयाप्त गुंजाइश देती हैं। दूसरी ओर गुलाम रज़ा के नाम पर

Swar Sindhu: National Peer-Reviewed/Refereed Journal of Music
ISSN 2320–7175 | Volume 09, Issue 02, July-December 2021
http://swarsindhu-pratibha-spandan-org
© The Author(s) 2021
A UGC CARE listed Journal

बना रज़ाखानी बाज द्रुत और चपल हैं। इस प्रकार सितार के अपनी भाषा और मुहावरे के साथ मुख्य वीणा के रूप में विकसित होने के दौरान वीणा के गम्भीर आलाप का स्थान सुरबहार ने लिया, जो सितार का ही एक प्रकार है।

जहाँ तक सितार अमीर खुसरो का आविष्कार होने की बात है, यह मत तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। खुसरो भारतीय तथा ईरानी संगीत का अच्छा ज्ञाता था यह बात सही है, परन्तु उसके पूरे साहित्य में सितार का नाम-निर्देश तक नहीं। प्रसिद्ध इतिहासकार बर्नी ने समकालीन दरबारी संगीत का विस्तृत विवरण दिया है। इसमें प्रसिद्ध संगीतज्ञ मुहम्मदशाह द्वारा बजाये जाने वाले 'चंग' नामक वाद्य का उल्लेख किया है, जो वीणा से मिलता-जुलता था। सितार का नए वाद्य के रूप में आविष्कार उस समय होता तो इसका उल्लेख बर्नी द्वारा अथवा समकालीन साहित्य में अवश्य किया जाता। अकबर के दरबार के प्रसिद्ध इतिहासकार बुलफज़ल ने उस समय के भारतीय एवं ईरानी साज़ों का उल्लेख किया है, जिनमें सितार, सारंगी या तबले का कोई जिक्र नहीं। हाँ, इस समय 'जन्त्री' नामक वाद्य लोक संगीत में प्रचलित था जिसमें दो तुम्बे थे। 6 तंत्रियाँ थीं और 16 पर्दे थे। यह वाद्य प्राचीन त्रितंत्री का विकसित रूप था। अकबरी दरबार में इसको प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त नहीं था। इस सम्बंध में एक बात ध्यान देने-योग्य है कि सितार का उल्लेख तुर्की तथा प्राचीन ईरानी साहित्य के अलावा भारत में उपलब्ध पर्शियन साहित्य में पाया जाता है। सितार की मुख्य विशेषता उसके परदों में है, जिनको वांछित स्वरावली में बाँधा जा सकता है। अमीर खुसरो से बहुत पहले भारत में परदे वाली वीणा प्रचतिल थी। उनके प्रायः समकालीन पं0 शारंगदेव के ग्रंथों से ऐसी वीणाओं का प्रचार प्रमाणित होता है। यदि तत्कालीन त्रितंत्री वीणा में ही यथोचित परिवर्तन कर सितार का प्रचलन अमीर खुसरो ने किया हो तो आश्चर्य नहीं। ऐसी स्थिति में उन्हें सितार का आविष्कर्ता मानने के बजाए 'प्रचारक' कहना अधिक श्रेयस्कर होगा।

उस्ताद इनायत खाँ का सितार-वादन सबसे ज़्यादा लोकप्रिय हुआ। सैंकड़ों सितार सीखने वालों को उनके सितार से भारी प्रोत्साहन मिला। आधुनिक युग में सितार वादन के आम प्रचार में उनका बहुत बड़ा योगदान है। पिछले तीस-चालीस वर्षों के बाज का ही अनुकरण करते रहे हैं। इस बाज का अपना एक अलग ढंग और चरित्र है, जिसमें जोड़, आलाप और गत प्रधान हैं। स्वर, लय ओर ताल का बहुत बढ़िया काम इनायत खाँ के सितार में था। उनके शिष्यों में प्रमुख सितार-वादकों में विलायत खाँ और रविशंकर का नाम सबसे ज़्यादा है। रविशंकर (स्वर्गीय) उस्ताद अलाउद्दीन खाँ के परम शिष्य थे। अब्दुलहलीम जाफ़र भी अच्छे सितार-वादक थे। उनके बाज में आसाधारण कला-कौशल था। तरुण सितार-वादकों में भी कलाकार हैं। यहाँ उन सबके नाम गिनाना सम्भव नहीं। यदि वे लगन से परिश्रम करते रहेंगे, तो हमें आशा है कि भविष्य में उनका बहुत नाम होगा।

इस समय जैसा सितार-वादन प्रचलित है, उसमें व्यक्तिगत प्रतिभा की प्रधानता है और बहुत हद तक प्राचीन वीणा और रबाब की वाद्य शैली का परित्याग है। यह कहाँ तक ठीक है, इस पर अलग-अलग राय हो सकती है। परन्तु यह तो मानना पड़ेगा कि पुरानी और आजकल के सितार-वादक पुरानी वाद्य-शैली के सिद्धातों को न ठीक से जानते हैं और न मानते हैं। यदि आजकल के सितार-वादक पुराने वादन के सिद्धांतों का परित्याग करके अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा पर ही निर्भर रहना चाहते हैं तो वे एक प्रकार की अराजकता के गुलाम भी बन सकते हैं। जिनके पास प्रतिभा है और जो कड़ा परिश्रम भी कर सकते हैं, वे यदि प्रतिभा के बल पर मनमानी छोड़कर प्राचीन वादन-शैली के मूल सिद्धांतों का पालन भी करें तो पुराना बाज किसी हद तक सुरक्षित रह सकता है। यदि पुराने बाज के सारे नमूनों का अंत हो जाएगा और हम पुराने बाज के सब नक़्शों को भूल जाएँगे तो प्राचीन वाद्य संगीत और आधुनिक संगीत के बीच एक गहरी खाई पैदा हो जाएगी।

Swar Sindhu: National Peer-Reviewed/Refereed Journal of Music
ISSN 2320–7175 | Volume 09, Issue 02, July-December 2021
http://swarsindhu-pratibha-spandan-org
© The Author(s) 2021
A UGC CARE listed Journal

जिसे हमारे आधुनिक उन्नतिशील वादक कभी न भर पाएंगे। नई-नई वाद्य शैलियों का आविष्कार करके हम प्राचीन बाज के तत्वों और सिद्धांतों को बिल्कुल भूल जाएंगे। हिन्दुस्तानी संगीत किसी भी सितार-वादक पर ज़बरदस्ती कोई अनुचित प्रतिबंध नहीं लगाता। परन्तु वादक की व्यक्तिगत स्वतंत्रता इसलिए नहीं है कि वह परम्परा की विचारधारा का परित्याग करके प्रयोगवाद को ही अपना लक्ष्य बनाए। व्यक्तिगत प्रतिभा का निरंकुश शासन हिन्दुस्तानी संगीत की परम्परा के अनिवार्य नियमों और सिद्धांतों की अवहेलना ही करेगा। यदि प्राचीन बाज की मज़बूत नींव पर हम आधुनिक बाज के ढांचे को खड़ा न करेंगे तो आधुनिक बाज के सहó चमत्कारों से हमारी आँखें चकाचैंध जो जाएंगी और हमारे वादक पथभ्रष्ट हो जाएंगे। हमारे सितार-वादकों को यह सारगर्भित तत्व नहीं भूलना चाहिए।

सरोद

सरोद हिन्दुस्तानी संगीत-सभाओं की सबसे नफीस वीणा है। आजकल यह लगभग सारी दुनिया में जाना जाता है। प्रायः यह दावा किया जाता है कि यह नाम 'शारदा' वीणा से निकला है। किन्तु कल्पना के अतिरिक्त इसका अन्य कोई आधार दिखाई नहीं देता, क्योंकि भारतीय संगीत-साहित्य में इस प्रकार की वीणा की कहीं कोई चर्चा नहीं है। सन् 913 में समरकंद के इलाके से कोई इब्त-अल-अबास आया था, जिसने असाधारण गोलाई का एक तार वाला साज़ बनाया, जिस 'शरुद' कहा गया। प्राचीन भारतीय फारसी साहित्य में भी सरोद की चर्चा हुई है। उत्तर-मध्यकाल के एक हसन निज़ामी दिल्ली सुल्तान के दरबार की एक गायिका का वर्णन करते हैं- ''सुरीली कोकिल बेबस आशिक की तरह बिलीखी और वह सरोद के संगीत और रूद के तारों पर एक आशिक की तरह रोई।'' आगे भी-''एक हसीनपरी चेहरा फूलों-सी महकली, दमकते रुखसारों वाली जिसने कोयल-सा मीठा गया और अपनी गूंजती तानों से अलौकिक जादू कर दिया। रूद और सरोद के संगीत ने संयम तोड़ दिया और अपने मुसिकार (एक वाद्य) के झटकों से उसने ऊँचे आसमानों में उड़ते हुए परिंदों को नीचे ज़मीन तक खींच लिया।'' रूद एक वाद्य था, लेकिन सरोद के बारे में हम निश्चित नहीं हो सके कि यहां सरोद का अर्थ किसी प्रकार की वीणा से है अथवा वह कोई धुन है। आज भी मध्य एशिया में उद पायी जाती है, जो छोटी ग्रीवा वाली एक किस्म की वीणा है। यह सब हमें सोचने को प्रेरित करता है कि सम्भवतः सरोद मध्य एशिया के इसी वाद्य से विकसित हुआ। इनमें न केवल संरचनात्मक साम्य है, बल्कि शब्द का अन्त (उद तथा सर उद) भी ध्यान देने योग्य है। रबाब की तरह यह भी लड़की का बना होता है और कटिमय होता है, परन्तु यह अपेक्षाकृत उथला होता है। दूसरा अन्तर यह है कि दंड पर लकड़ी की बजाए धातु की पत्तियां होती हैं। चार मुख्य तन्त्रियां, चार सहायक, दो आधार के लिए और लगभग एक दर्जन अनुगूँज (तरब) के लिए होती हैं। ये सभी धातु की बनी होती हैं। सरोद भी रबाब की तरह लकड़ी के एक छोटे-से टुकड़े 'जीवा' से बजाया जाता है। रबाब के अनुकरण पर बना वाद्य (सरोद) भारतीय तंत्रकारी में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इसे 'शारदीय वीणा' का अपभ्रंश माना जाता है, परन्तु चूंकि मध्यकालीन संगीत ग्रंथें में इस नाम से कोई वाद्य उपलब्ध नहीं होता, अतएव इसके वर्तमान रूप को रबाब का ही परिवर्तित रूप मानना अधिक उपयुक्त होगा। इसे दो शैलियों में बजाया जाता हैः- 1. रबाब की शैली, और 2. स्वर श्रृंगार शैली। तानसेन-परम्परा के बासत खाँ की शिष्य परम्परा में रबाब की शैली प्रचलित रही और रामपुर के उस्ताद वज़ीर खाँ की परम्परा में सुरसिंगार की शैली अपनाई गई।

सरोद में मुख्य चार तार होते हैं और 12 तार तरबों के होते हैं। ये तरबें मुख्य तारों के नीचे से लगी रहती है और सरोद की झंकार को बढ़ाने में सहायक होती हैं। वर्तमान समय में इसे प्रचार में लाने का श्रेय हैदरअली खाँ को दिया जाता है, जो इस साज़ को काबुल से लाए। उनके पुत्र गुलामअली के तीन पुत्र थेः- हुसैनअली, मुरादअली तथा नन्ने खाँ। नन्ने खाँ ने

Swar Sindhu: National Peer-Reviewed/Refereed Journal of Music
ISSN 2320–7175 | Volume 09, Issue 02, July-December 2021
http://swarsindhu-pratibha-spandan-org
© The Author(s) 2021
A UGC CARE listed Journal

सरोद की तालीम तानसेन-परम्परा के प्रसिद्ध रबाब वादक बासत खाँ तथा रामपुर के गुलाम मुहम्मद से हासिल की। आफताबे सरोद उस्ताद हाफिज़अली खाँ (ग्वालियर) इन्हीं नन्ने खाँ के पुत्र थे। बासत खाँ के दूसरे शिष्य नियमतुल्ला थे, जिनके पुत्र करामतुल्ला सरोद के श्रेष्ठ वादक हुए हैं। इस साज़ के विश्व प्रसिद्ध वादक मैहर के उस्ताद अलाउद्दीन खाँ थे, जिन्होंने जयपुर के अहमदअली तथा रामपुर के उस्ताद वज़ीर खाँ से शिक्षा हासिल की। उन्हीं के पुत्र अलीअकबर खाँ इस इस साज़ के सफल कलाकर के रूप में समस्त संसार में प्रसिद्ध थे। 'सरोद' शब्द की उत्पत्ति अरबी शब्द शहस्द से हुई है, जिसका अर्थ है 'संगीत'। अरब का शहस्द और अफगानिस्तान का रबाब मिलकर ही भारत का सरोद बना। इसमें सारंगी तथा वीणा, दोनों के गुण विद्यमान हैं। यह गतकारी के लिए उत्तम वाद्य हैं। इसकी ध्वनि बड़ी मधुर होती है।

तानपूरा

शास्त्रीय गायन में तानपूरे की संगति से गायक अपनी आवाज़ की स्वाभाविकता नहीं खोता। इस वाद्य से एक प्रकार की धुन सी निकलती है, जिससे गायक को पता चलता रहता है कि उसकी स्वाभाविक आवाज कौन सी है। नहीं तो वह पतला या ज़्यादा ऊँचा गाना शुरू कर सकता है जिससे आगे चलकर आवाज़ फट जाएगी। तानपूरे की संगति से गायक कभी बेसुरा नहीं हो सकता। इसी कारण इसे 'भारतीय संगीत का मूलाधार' कहते हैं। लकड़ी के बने इस वाद्य के नीचे कद्दू का तूँबा लगा होता है। इसमें चार तारें लगी होती हैं, जिन्हें क्रमशः मध्य पंचम, मध्य सा और मंद्र सा से मिलाते हैं। ध्यान से सुनने पर इन चार तारों के छेड़ने पर जो ध्वनि की उत्पत्ति होती है उसमें से सातों स्वरों की ध्वनि सुनाई देती है।

प्रचलित 'तानपूरा' शब्द को 'तंबूरा' शब्द का अपभ्रष्ट रूप कहा जा सकता है। कहते हैं, तम्बरू नामक गंधर्व द्वारा इस वाद्य का आविष्कार किया गया था, इसीलिए उसी के नाम पर इसे 'ताम्बूरम् या तंबोरा' कहा गया। पाणिनीय शिक्षा में 'अलाब' नामक दिस्वरी अर्थात् द्वितंत्री (दो तार वाली) वीणा का उल्लेख मिलता है। अलाबू शब्द का अर्थ तुम्ब फल या तुम्बा होता है। पाणिनीय शिक्षा में उल्लिखित द्वितंत्री वीणा 'अलाबू' को तुबरु कहना वास्तविकता के अधिक समीप होगा। ऐसी स्थिति में मुख्यतः 'अलाबू' अर्थात् 'तुम्बफल' या तुम्बा पर आश्रित इस वाद्य को 'तंबूरा' कहना अधिक उचित है। आज भी महाराष्ट्र तथा भारत के अनेक भागों में 'तानपूरा' शब्द के स्थान पर 'तंबूरा' शब्द अधिक प्रचार में दिखाई देता है। 'तानपूरा' शब्द की व्युत्पत्ति के आधार-स्वरूप विशिष्ट उल्लेख भी अप्राप्य है, इसलिए 'तंबूरा' शब्द का 'तानपूरा' अपभ्रष्ट रूप है, यही अनुमान किया जा सकता है।

उत्तरी तथा दक्षिणी, दोनों संगीत पद्धतियों में तम्बूरे का प्रयोग गायन, वादन तथा नृत्य तीनों के साथ स्वर देने के लिए किया जाता है। श्रुति-शुद्धता तथा षड्ज स्वर का स्थायित्व भारतीय संगीत का सर्वाधिक अंग होने के कारण इस वाद्य का निरन्तर बजाया जाना अनिवार्य माना जाता है। पाश्चात्य संगीत में न तो श्रुति के सूक्ष्म भेदों का प्रयोग होता है, न आरम्भिक या टोनिक स्वर ही स्थायी रहता है। अतएव वहाँ तम्बूरे जैसे निरन्तर स्वर देने वाले वाद्य की आवश्यकता महसूस नहीं होती।

इस वाद्य का उद्भव कब और कैसे हुआ, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। भारत के प्राचीन तथा मध्ययुगीन चित्रों तथा शिल्पों में कहीं भी इस वाद्य का चित्र प्राप्त नहीं होता। प्राचीन काल में गायक के साथ स्वर देने के लिए एकतंत्री एवं द्वितंत्री जैसी वीणाओं की तंत्रियों को निरन्तर छेड़ा जाता था, ताकि गायक का ध्यान आरंभ स्वर पर सदा केन्द्रित रहे। प्रतीत होता है कि इसी आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए संवाद-सिद्धांत के आधार पर चार तंत्रियों वाला तम्बूरा प्रचार में आया है।

Swar Sindhu: National Peer-Reviewed/Refereed Journal of Music
ISSN 2320–7175 | Volume 09, Issue 02, July-December 2021
http://swarsindhu-pratibha-spandan-org
© The Author(s) 2021
A UGC CARE listed Journal

सुरबहार

यह आकार-प्रकार में सितार के समान होता है। इसमें आठ तार होते हैं, जो म, स, प (मन्द्र), स (मन्द्र), प, स, स, स (तार) में मिलाए जाते हें। इसके तार कुछ मोटे होते हैं। मीड़युक्त आलाप एवं गमक निकालने के लिए इसमें काफी गुंजाइश होती है। सितार के समान यह भी कोण या मिज़राब से बजाया जाता है। बजाने में सितार की भाँति दोनों हाथों का उपयोग होता है। सितार की सारिकाएँ विशिष्ट स्वरावली स्थापित करने के लिए प्रायः सरकाई जा सकती हैं, परन्तु सुरबहार की सारिकाएं अचल अर्थात् स्थायी रूप से बंधी रहती हैं।

रामपुर के वज़ीर खां के दादा उमराव खां (जो प्रसिद्ध वीणा वादक थे) के शिष्य गुलाम मुहम्मद को इसका आविष्कारक होने का श्रेय दिया जाता है। उन्होंने सितार का आकार बड़ा करके और उसमें चिकारियों की योजना कर 'सुरबहार' का निर्माण किया। उनके पुत्र सज्जाद मुहम्मद भी इसके अच्छे कलाकार थे। एक अन्य मत के अनुसार, प्रसिद्ध सितार-वादक शेहदाद खां ने सितार में सुधार कर इस नए वाद्य का आविष्कार किया। प्रसिद्ध सितार-वादक इमदाद खां के पुत्र वहीद खां इस वाद्य के श्रेष्ठ कलाकार रहे। मैहर के उस्ताद अलाउद्दीन खाँ अनेक वाद्यों के साथ इस वाद्य को भी सफलता से बजाते थे। उनकी पुत्री अन्नपूर्णा देवी द्वारा यह परम्परा आज भी सुरक्षित है।

सुरसिंगार

यह वाद्य रबाब के आकार का, किंतु कुछ लम्बा और चैड़ा है। इसकी तंत्रियों की संख्या वही है, जो रबाब में होती है। रबाब की भांति यह भी सारिका-विहीन या परदों से रहित वाद्य है। इसे यदि रबाब का जवाब कहा जाए तो आपत्ति नहीं। इसके सिरे पर जहां स्वरों के लिए खूंटियां लगी रहती हैं, नीचे तुम्बा लगा रहता है जिससे साज़ की गूंज बढ़ने में सहायता मिलती है। रबाब के विरुद्ध इसकी तंत्रियां धातु की बनी होती हैं और तारों के नीचे सरोद जैसी धातु की पट्टी लगी होती है, जिससे स्वरों पर उंगलियां सरलता से खिसकती हैं। इस वाद्य में आठ तार होते हैं जिन्हें क्रमशः स, स, प, स, ग, स, रे और प में मिलाया जाता है। वादन मुख्यतः पहले तीन तारों पर किया जाता है। अन्तिम दो तारों को राग के अनुसार बदल दिया जाता है। इसमें चिकारियां लगी होने के कारण झाले का काम भली-भांति किया जा सकता है। यह वाद्य रबाब एवं सरोद के बीच वाली स्थिति का प्रतिनिधित्व करता है। इसके आविष्कार के संबंध में विभिन्न मत पाए जाते हैं। एक मत यह है कि लखनऊ के नवाब वाजिदअली शाह के गुरु प्यार खाँ ने इस वाद्य का आविष्कार किया, जो रीवां के महाराज विश्वनाथ सिंह की सभा के माने हुए तंतकार थे। एक अन्य मत के अनुसार, रामपुर के भूतपूर्व नवाब कल्बअली खां ने इस वाद्य का आविष्कार किया था। एक मत यह भी है कि तानसेन की परम्परा के जफ़र खां नामक वादक ने पिछली शताब्दी के आरंभ में रबाब के आधार पर इसका आविष्कार किया। जफर खां सर्वप्रथम लखनऊ-दरबार में रबाब-वादक रहे, परन्तु बाद में स्थायी रूप से बनारस बस गए। ये शुरू में रबाब बजाते थे, परन्तु एक बार इन्होंने देखा कि जानवर की खाल से मढ़े जाने के कारण तथा चरबी की तांते लगी होने के कारण बरसात के मौसम में यह वाद्य एकदम मद्धा पड़ गया। इसलिए उन्होंने लोहे व पीतल के तार तथा नीचे की ओर धातु की पट्टी जोड़कर इस नए साज़ का निर्माण किया। जफर खां के उत्तराधिकारी बहादुरहुसैन ने अपने मामा प्यार खां सुरसिंगार की शिक्षा प्राप्त की तथा इस साज़ को लोकप्रिय बना दिया। रामपुर के सर्वश्रेष्ठ बीन-वादक उस्ताद वज़ीर खां, उस्तात इम्मन खां उनके भाई हैदरअली आदि इस साज़ के उत्कृष्ट वादक रहे हैं।

Swar Sindhu: National Peer-Reviewed/Refereed Journal of Music
ISSN 2320–7175 | Volume 09, Issue 02, July-December 2021
http://swarsindhu-pratibha-spandan-org
© The Author(s) 2021
A UGC CARE listed Journal

स्वरमंडल

यह एक प्राचीन वाद्य है, परन्तु पिछले 50 वर्षों से अधिक प्रचार में आया है। इसका सोलो वादन बहुत कम पाया जाता है। कुछ गायक अवश्य अपने गायन के साथ सुर भरने के लिए इसको स्वयं बजाते रहते हैं। तम्बूरे के माध्यम से गायक को केवल 'प, स, स, इन चार ही स्वरों की उपलब्धि होती है, परन्तु स्वरमंडल से उन्हें विभिन्न रागों की स्वरावलियां तक मिल जाती हैं। यह अरब और मिó देश के 'कानून' नामक वाद्य से मिलता-जुलता है। यह लगभग 3 फुट लम्बा, 1.5 फुट चैड़ा और 7 इंच ऊँचा होता है। इसमें 21 से लेकर 19 तक तंत्रियाँ होती हैं, जिनको बजाने के लिए उँगली, नाखून या मिज़राब का प्रयोग किया जाता है।

कुछ लोग इसे 'नारदी' या 'महती' वीणा का रूपान्तर मानते हैं। महती वीणा में 21 तंत्रियाँ हुआ करती थीं। 'संगीत-रत्नाकर' के अनुसार, ऐसी वीणा का नाम 'मत्तकोकिला' था। उसके टीकाकार कल्लिनाथ के अनुसार, इसी को लोकभाषा में 'स्वरमंडल' कहा जाता था। इसकी उत्पत्ति प्राचीन शततंत्री वीणा से भी मानी जाती है। इसका एक रूप आज कश्मीर के 'सन्तूर' में मिलता है। यह शब्द फारसी भाषा का है और इसका अर्थ है-'सौ तार'। शततंत्री वीणा प्राचीन वैदिक वाद्य है, जिसका प्रचार सूत्रकार कात्यायन के भी पहले से था। वैसे, इसे 'कात्यायनी वीणा' भी कहा जा सकता है। आधुनिक सन्तूर में सौ तार होते हैं और प्रत्येक घुड़च पर चार तार लगे रहते हैं। 4-4 तार एक ही स्वर में मिलाए जाते हैं। लकड़ी के दो मिज़राबों से इसे बजाया जाता है। जोड़, झाला, लयकारी आदि के साथ तरबों की झंकार खास विशेषता रखती है।

स्वरमंडल बजाने की तीन विधियाँ हैं। पहली विधि में वाद्य को हाथ की उँगलियों से बाजाया जाता है। गायक लोग जब अपनी संगति के लिए इस वाद्य का प्रयोग करते हैं, तब इसकी तंत्रियों को वांछित 'मेल' में मिला देते हैं और हादिने हाथ की उँगलियों से तंत्रियों को छेड़ते रहते हैं। दूसरी विधि के अन्तर्गत दाहिने हाथ की पहली व दूसरी उँगलियों में मिज़राबें पहनी जाती हैं और इसी से तारों को छेड़ा जाता है। बाएँ हाथ में अँगूठी या शंख के आकार की गोल वस्तु को लेकर उससे तंत्रियों को दबाया जाता है और विभिन्न गमक तथा अलंकार निकाले जाते हें। तीसरी विधि के अन्तर्गत दोनों हाथों में जलतरंग की भाँति दो लकड़ियाँ लेकर तारों को छेड़ा जाता है, जिससे खुले स्वर तो बराबर निकलते हैं परन्तु मीड़ जैसी क्रियाएँ नहीं हो पातीं। पाश्चात्य पियानों का विकास इसी शैली से बजने वाले 'हार्प' नामक वाद्य से माना जाता है। स्वरमंडल के वादकों में स्वामी डी.आर. पार्वतीकर का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है। उन्होंने इस साज़ में कुछ परिवर्तन किए। चार स्वरमंडल एक साथ बजाने की एक अद्भुत शैली का आविष्कार भी उन्होंने किया। इसी का जो दूसरा रूप सन्तूर नाम से प्रसिद्ध है, उसके वादक के रूप में कश्मीर के पं0 शिवकुमार शर्मा विख्यात हैं।

रबाब

'रबाब' शब्द अरबी है। आरम्भ में इस शब्द का प्रयोग हर किसी वाद्य के लिए किया जाता रहा, परन्तु बाद में यह विशिष्ट वाद्य का बोधक हुआ। इसके वर्तमान रूप के विकास में मध्य एशिया के 'रिबेक' नामक वाद्य का कुछ योगदान माना जाता है। भारत तथा अरब के परस्पर सम्पर्क तथा सम्बन्धों को देखते हुए इसका मूल रूप मध्ययुगीन 'आलापिनी' वीणा में खोजा जा सकता है। इस वीणा पर ताँत के तार लगाए जाते थे। धातु के तार वाले वाद्यों से 'वीणा' विकसित हुई और ताँत वाले वाद्यों से 'रबाब' का रूप विकसित हुआ। कुछ लोग इसे रुद्रवीणा से उत्पन्न मानते हैं, परन्तु रुद्रवीणा से

Swar Sindhu: National Peer-Reviewed/Refereed Journal of Music
ISSN 2320–7175 | Volume 09, Issue 02, July-December 2021
http://swarsindhu-pratibha-spandan-org
© The Author(s) 2021
A UGC CARE listed Journal

इसके रूप व रचना की भिन्नता को देखते हुए इसे आलापिनी वीणा का परिवर्तित रूप मानना अधिक उत्तम होगा। यह वाद्य भारत के अलावा मलाया, उत्तर-पश्चिमी अफ्रीका तथा अफगानिस्तान जैसे देशों में भी प्रचलित है।

यह वाद्य एक लम्बे तथा खोखले डाँड से बनता है। इसके नीचे की ओर लकड़ी का एक तुम्बा होता है, जो डांड का ही एक हिस्सा होता है। तुम्बे वाला भाग कुछ चैड़ा और ऊपर से चपटा होता है तथा दूसरे छोर की ओर, जहाँ खूँटियाँ लगी रहती हैं, सिकुड़ता हुआ चला जाता है। तुंबे का ऊपरी हिस्सा भेड़ की खाल से मढ़ा रहता है, जिसको 'माँद' कहते हैं। इसके ऊपर बीच में लकड़ी की घोड़ी या घुड़च रखी रहती है, जिसे 'घुड़च-घनी' कहते हैं। दूसरी ओर जो घुड़च होती हे, उसे 'तार-घनी' कहते हैं। इन्हीं दोनों के सहारे रबाब के तार सम्हले रहते हैं। तार छह होते हैं, जो ताँत से बने होते हैं। ये क्रमशः मध्य प, मध्य रे, मध्य सा, मन्द्र प, मन्द्र म और मन्द्र सा में मिलाए जाते हैं। इनको क्रमशः जीर, म्यान, सुर, मन्द्र, घोर और खरज कहते हैं। इनको बजाने के लिए प्रायः लकड़ी या हस्तिदन्त का तिकोना टुकड़ा काम में लाया जाता है, जिसको 'जवा' या 'जरब' कहते हैं। दाहिने हाथ के अँगूठे और पहली तथा दूसरी उँगली से जवे को पकड़कर तारों पर प्रहार किया जाता है और बाएँ हाथ की उँगलियों से ताँत को डाँउ पर दबाकर स्वर निकाले जाते हें।

रबाब का बाज मध्य लय की आलापचारी का है, जिसमें वीणा के समान मीड़ का विलम्बित अंग प्रायः नहीं पाया जाता। इसकी वादन-शैली में गमक, जोड़, छूट, छपक तथा तार-परन जैसे अलंकार बजाए जाते हैं। तार-परन के अन्तर्गत तबले के आघातों की ध्वनि वाद्य पर निकाली जाती है। छपक को निकालने के लिए बाएँ हाथ की उँगलियों से तंत्रियों पर हलका सा आघात किया जाता है। ताल की गति को स्पष्ट करने के लिए माँद पर बाईं हथेली से प्रहार करने की प्रथा है। सामन्यतः इसकी वादन-शैली बीन की शैली से मिलती-जुलती है। अन्तर यह है कि बीन में विलम्बित मीड़ के लिए जितनी गुंजाइश रहती है, उतनी रबाब में नहीं। बीन में सारिकाएँ होती हैं, जो रबाब में नहीं होतीं। बीन में चिकारियाँ होने के कारण स्वरों का 'भरना' सदैव चलता रहता है और मूल स्वर की ध्वनि अखंड गुंजित होती रहती है। किन्तु रबाब में चिकारी के तार न होने से उनका कार्य सुर के तार से ही लेना पड़ता है।

इस वाद्य का विशेष प्रचार अफगानिस्तान तथा पंजाब की ओर विशेष रूप से दिखाई देता है। पंजाब में सिख-बानियों की संगति के लिए इसी वाद्य का प्रयोग किया जाता रहा। गुरु नानक तथा उनकी शिष्य-परम्परा में इस साज़ को विशेष पसन्द किया गया था। तानसेन को यह वाद्य प्रिय था और उनके पुत्रवंश में यह बराबर प्रचलित रहा। यह घराना 'सेनिया' के नाम से प्रसिद्ध है। इस परम्परा में गुलाम खाँ के तीन पुत्र-जफर खाँ, प्यार खाँ और बासत खाँ थे, जिन्होंने इस वाद्य के प्रसार में काफी योगदान दिया। बहादुर सिंह, हैदरअली तथा वज़ीर खाँ (रामपुर) इस वाद्य के श्रेष्ठ वादक रहे हैं।

सारंगी

संगीत सभाओं में प्रयुक्त सारंगी वाद्य लकड़ी के एक ही टुकड़े का बना होता है और लगभग साठ सेंटीमीटर लम्बा होता है। खोखला वाद्य चैड़ा किन्तु नीचे की ओर संकरा होता है और यह चपटे दंड के रूप में बढ़ जाता है। निचला भाग खाल से मढ़ा होता है और स्वर-पेटी की तरह कार्य करता है, जबकि ऊपरी भाग लकड़ी से ढका हुआ रहता है। मुख्य तंत्रियां गिनती में चार होती हैं और आम तौर पर ताँत की बनी होती हैं, जैसा कि उत्तर भारत के वाद्ययंत्रों की विशेषता है। इसमें तरबें भी होती हैं। सबसे अधिक ध्यान देने योग्य उँगलियों की इसकी तरकीब है, जो किसी वाद्य में नहीं होती। उँगलियों के पोरों के स्थान पर इसमें नखों का प्रयोग किया जाता है। इसकी एक अत्यंत विशाल किस्म भी है, जिसे 'मंदर-बहार' कहते हैं। उसकी आवाज़ बहुत ऊँची होती है और कभी-कभी वह शास्त्रीय संगीत-सभाओं में भी देखने को मिलता है।

Swar Sindhu: National Peer-Reviewed/Refereed Journal of Music
ISSN 2320–7175 | Volume 09, Issue 02, July-December 2021
http://swarsindhu-pratibha-spandan-org
© The Author(s) 2021
A UGC CARE listed Journal

किसी अन्य तत वाद्य की अपेक्षा सारंगी एक साथ लोकवाद्य और शास्त्रीय वीणा भी है। यह फिर हमारे संगीत की अबूझ पहेली को खोल देता है। यह एक भारतीय वाद्य है, जो हमारी कुछ लोक-परम्पराओं में गहरे तक रचा बसा है और हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत में जिसकी महत्वपूर्ण जगह है। लोक-वाद्य के रूप में प्रचलित सारंगी और शास्त्रीय संगीत में प्रयुक्त होने वाली सारंगी की सरंचना लगभग समान होती है। उत्तर भारत में सारंगी को नर्तकियों की संगत के वाद्य के रूप में अधिक जाना जाता था और सामाजिक तौर पर सारंगिए (सारंगी-वादक कलाकार) संगीतकारों में सबसे नीचे तबके के माने जाते थे। परन्तु आज तस्वीर बिल्कुल उलट है। उच्च संगीत-सभाओं में सारंगी की बहुत मांग है और इसके वादकों ने राष्ट्रीय व अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर सम्मान प्राप्त किया है।

कई प्रकार की लोक-सारंगी हैं, जो बहुत कुछ राजस्थान और निकटवर्ती क्षेत्रों तक सीमित हैं यद्यपि ऊंगली संचालन की विशेष तरकीब युगोस्लाविया तथा यूनान जैसे दूर देशों तक प्रचलित है। हमारे देश में मिलने वाली लोक सारंगी की किस्में हैं- गुजरातन सारंगी, जोगी सारंगी, सिंधी सारंगी और धानी सारंगी, जो देखने में आम तौर पर एक सी होती हैं लेकिन इनमें सूक्ष्म अन्तर होता है। इन्हीं लोक-वाद्यों से संगीत सभाओं में प्रयुक्त किस्में विकसित हुई हैं। सारंगी वाद्य संगत के लिए उत्तम वाद्य है। यह गायक को सहयोग देता है अर्थात् यदि कहीं गायक चूक जाए या श्वास टूट जाए तो यह उस खाई को पार कर राग-सौन्दर्य को बनाए रखता है। इसका कार्य स्वरों को भरना और गायक को प्रोत्साहित करना है। इसे सिरे के नीचे रखकर वादन करते हैं। इसमें तीन तार ताँत की और चैथा तार लोहे का होता है। अनुध्वनि के लिए मुख्य तंत्रियों के नीचे लगभग 15 तंत्रियाँ लोहे की होती हैं।

गायन की संगति के लिए यह साज़ सबसे अधिक उपयोगी माना जाता है। आज भी इसकी लोकप्रियता बराबर बनी हुई है। इसका विशेष प्रचार ख्याल तथा ठुमरी के साथ हुआ है। इस वाद्य का विकास मध्य काल की घटना है। ई0 13वीं शताब्दी के 'संगीत-रत्नाकर' में 'शारंगी' नामक वीणा का उल्लेख है, परन्तु उसके विवरण के अभाव में उसे सारंगी का पूर्व-रूप मानना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। कुछ विचारकों की सम्मति में पं. शारंगदेव के द्वारा आविष्कृत 'शारंगदेवी' वीणा ने ही आगे चलकर शारंगी का रूप लिया। इस वीणा का सही नाम 'निःशंक-वीणा' रहा है, न कि 'शारंगी' अथवा 'सारंगी' अकबर के दरबारी वाद्य यंत्रों में सारंगी का नाम निर्देश तक नहीं, यह बात इतिहास से प्रमाणित है। ई0 16 वीं शताब्दी के संगीत नारायण नामक ग्रंथ में वर्तमान सारंगी से मिलते-जुलते वाद्य का विस्तृत विवरण पाया जाता है। कुछ छोटे अन्तर के साथ वह हूबहू सारंगी से मेल खाता है।

यह वाद्य साल या पनस जैसी ठोस लकड़ी से बनाया जाता है। यद्यपि देखने में यह मोटा, चैड़ा, भारी और बदसूरत-सा है।, तथापि इसकी आवाज़ मधुर और मानव-कण्ठ से काफी मिलती-जुलती होती है। इसके नीचे का हिस्सा खाल से मढ़ा जाता है, जिसको 'मन्धान' कहते हैं। यह भाग कुछ चैड़ा होता है और दूसरे सिरे की तरफ छोटा होता चला जाता है। इसके मझले भाग को 'छाती' कहते हैं। इस पर चार मुख्य तार होते हैं जिनमें तीन तांत के और एक तांबे का तार होता है। इनको क्रमशः 'स, प, स तथा म अथवा ग' में मिलाया जाता है। सारंगी-वादकों के अनुसार, ताँतों की मोटाई में आपसी अनुपात होता है। जोड़ी की ताँत यदि 19 हिस्से मोटी हो तो पंचम की 22 हिस्से मोटी होनी चाहिए और खरज की 18 हिस्से मोटी होनी चाहिए। इसमें नीचे की ओर 11 से लेकर 22 तक तरबें होती हैं, जिन्हें राग की प्रकृति के अनुसार मिलाया जाता है।

Swar Sindhu: National Peer-Reviewed/Refereed Journal of Music
ISSN 2320–7175 | Volume 09, Issue 02, July-December 2021
http://swarsindhu-pratibha-spandan-org
© The Author(s) 2021
A UGC CARE listed Journal

यह साज़ धनुषाकार गज़ या 'बो' से बजाया जाता है। गज़ दाएँ हाथ से थामा जाता है और स्वर निकालने के लिए बाएँ हाथ की पहली, दूसरी और तीसरी उँगली के नाखूनों का उपयोग किया जता है। वायलिन के समान इसके तारों को उँगलियों से दबाया नहीं जाता, वरन् तारों के किनारों पर नाखूनों की सहायता से दबाव डाला जाता है। पेशेवर सारंगी-वादकों के नाखून बहुधा घिसे हुए पाए जाते हैं, उसका कारण यही है। इस साज़ पर गायकी का बाज पूर्ण सफलता से बजाया जाता है। पेशेवर सारंगी-वादकों के नाखून बहुधा घिसे हुए पाए जाते हैं, उसका कारण यही है। इस साज़ पर गायकी का बाज पूर्ण सफलता से बजाया जा सकता है। गायन की सभी विशेषताओं तथा सूक्ष्मताओं को हूबहू प्रदर्शित कर देना इसकी अपनी विशेषता है। प्रमुख सारंगी-वादकों में अलबख्श (दिल्ली), साबितअली (ग्वालियर), बुन्दू खाँ (इन्दौर), हुसैन बख्श (लखनऊ), गुलाम साबिर (दिल्ली), गोपाल मिश्र, रामनारायण तथा बैजनाथ मिश्र (बनारस) आदि के नाम लिए जा सकते हैं। इन लोगों ने इस साज़ को संगत-वाद्य के अलावा एकल या 'सोला' वाद्य के रूप में भी संगीत-समाज में प्रतिष्ठा दिलाई है।

दिलरूबा

यह इसराज से मिलता-जुलता वाद्य है, परन्तु आकार में कुछ बड़ा होता है। इसका ऊपर वाला भाग सितार के समान और नीचे वाला भाग सारंगी के समान चैड़ा तथा चमड़े से मढ़ा रहता है। सारंगी की भाँति दिलरुबा बाएँ कधें के सहारे खड़ा करके बाजाया जाता है। इसमें चार तार होते हैं, जिनमें से बाईं ओर वाला पहला तार मन्द्र म का होता है और शेष तार क्रमशः मध्य स, मन्द्र प तथा मन्द्र स में मिलाए जाते हैं। पहले दो तार स्टील के और शेष दो तार ताँबे के होते हैं। मन्द्र म के तार को 'बाज का तार' कहते हैं। इसका वादन मुख्यतः इसी तार पर विभिन्न परदे दबाकर किया जाता है। परदों की संख्या 15 से 19 तक होती है। योग्य स्वर पाने के लिए इन परदों या सारिकाओं को आवश्यकतानुसार खिसकाया जा सकता है। परदों के नीचे 22 तरब के तार होते हैं, जिनसे साज़ की झंकार बढ़ जाती है। इन तारों की खूँटियाँ दंड के दाहिने पाश्र्व में एक विशेष पट्टिका पर लगी रहती हैं। यह वाद्य गज़ से बजाया जाता है, जिसमें घोड़े की पूँछ के बाल लगे होते हैं। यह सारंगी के गज़ जैसा ही धनुषाकार होता है। कहीं-कहीं नीचे का हिस्सा मोर की आकृति का पाया जाता है। ऐसे साज़ को 'मयूर-वीणा' या 'मयूर-सितार' कहते हैं।

इस प्रकार हम संक्षेप में कह सकते हैं कि दिलरुबा सितार और सारंगी का मिला-जुला रूप है। इसका आकार सारंगी की तरह होता है, पर दंड की लम्बाई उसमें ज्यादा होती है। इस पर भी सारंगी की तरह गज़ द्वारा प्रहार किया जाता है। इसके घट-स्थान के नीचे के भाग चमड़े से मढ़े होते हैं। इसमें 19 सारिकाएँ होती हैं, जो सरकने योग्य होती हैं। चार मुख्य तार होते हैं, जिनमें दो लोहे के और दो पीतल के होते हैं। अनुध्वनि के लिए 22 तरब के तार होते हैं। परदे पर जो स्वर बजता है, उससे मिलती तरब अपने-आप बोलकर गूँज पैदा करती है।

इसराज

यह दिलरुबा वाद्य से मिलता-जुलता वाद्य है। इसका आकार सितार से मिलता-जुलता है, परन्तु नीचे का तुंब या घट सारंगी की भाँति बकरी की खाल से बढ़ा रहता है। इसके लकड़ी वाले मुख्य भाग को 'डाँड' और निचले हिस्से को 'कुंडी' कहते हें। इसमें स्टील तथा पीतल के चार तार होते हैं, जो क्रमशः मन्द्र म, मन्द्र स तथा मन्द्र प में मिलाए जाते हैं। बीच के दो तारों को 'जोड़ी के तार' कहते हैं। पहला अर्थात् मन्द्र म का तार 'बाज का तार' होता है, जिसे 'नायकी तार' भी कहते हैं। साज़ की गुँज बढ़ाने के लिए मुख्य तारों के नीचे से पन्द्रह-बीस तार लगे होते हैं, जिन्हें 'तरबें' कहते हैं। इन्हें

Swar Sindhu: National Peer-Reviewed/Refereed Journal of Music
ISSN 2320–7175 | Volume 09, Issue 02, July-December 2021
http://swarsindhu-pratibha-spandan-org
© The Author(s) 2021
A UGC CARE listed Journal

राग के अनुसार भिन्न-भिन्न स्वरों में मिलाया जाता है। इसमें कुल 16 परदे या सारिकाएँ होती हैं, जो पातल या लोहे की बनी होती हैं। ये सारिकाएँ अपने स्थान पर चिपकी रहती हैं। इस साज़ को बजाने के लिए गज़ का प्रयोग किया जाता है, जिसमें घोड़े की पूँछ के बाल लगे होते हैं। गज़ को दाहिने हाथ से चलाते हैं और बाएँ हाथ की पहली अँगुली तथा बीच की अंगुली को सारिकाओं पर दबाकर स्वर निकाले जाते हैं। यह साज़ 'गायकी तथा तंतकारी, दोनों शैलियों से बजाया जाता है। इस वाद्य के आविष्कार तथा काल के संबंध में कोई प्रमाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं। तथापि इतना निश्चित है कि यह वाद्य (जो सारंगी तथा सितार का मिश्रित रूप है) ई0 20वीं सदी का आविष्कार है। संभवतः सारंगी को प्रतिष्ठित समाज में स्थान देने के लिए ही उसमें सितार के परदों को जोड़कर इसराज वाद्य का रूप दिया गया है। इस वाद्य का प्रचार बंगाल प्रदेश में अधिक है।

उपसंहार

अत: हम कह सकते हैं कि भारतीय संस्कृति को गौरवाशाली बनाने में हिन्दुस्तानी तथा कर्नाटक संगीत का एक बड़ा योगदान रहा है। विशेष रूप से तत् वाद्यों की प्रमुख भूमिका रही है। तत वाद्यों के भिन्न-भिन्न प्रकार प्रचलित हैं जो शास्त्र के अनुसार नियमबद्ध तरीके से बजाए जा रहे हैं तथा संगीत को आनंद दायक बनाते हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

ध्वनि और संगीतः ललित किशोर सिंह, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली 1971
प्राचीन भारत में संगीतः डा. धर्मावती श्रीवास्तव भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी; 1967
भरत का संगीत सिद्धांतः डा. कैलाशचन्द्रदेव बृहस्पतिः प्रकाशन शाखा; सूचना विभाग, उ. प्र. 1956
भारतीय संगीत का इतिहासः उमेश जोशी, 1978
भारतीय संगीत का इतिहासः डा. शरच्चन्द्र श्रीधर परांजये; चैखम्बा प्रकाशन, वाराणसी; 1969
भारतीय संगीत सरिताः डा. रमा सराफ, 2003
भारतीय संगीत-वाद्यः डा. लालमणि मिश्र, 1973
मुसलमान और भारतीय संगीतः आचार्य बृहस्पति, रामकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1974
श्रुति-वीणाः डा. लालमणि मिश्र; 1964
संगीत परिजातः अहोबल, संगीत कार्यालय, हाथरस (उ.प्र.) 1971
संगीत शास्त्र परागः गोविन्द राव, राजुरकर, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 1982
संगीत शास्त्रः के वासुदेव शास्त्री; 1968
संगीत-मंजुषाः इन्द्राणी चक्रवर्ती; मित्तल पब्लिकेशन, दिल्ली 1988
हमारे संगीत रत्नः लक्ष्मी नारायण गर्ग, संगीत कार्यालय, हाथरस 1978